समाज और ललितकला

*डॉ. नीरू कल्ला

समकालीन कला पर विचार करने से पहले हमें भारतीय कलाओं के क्रमिक विकास के परिदृश्य को समझना होगा, जैसा कि सर्वज्ञात है कि सदियों से कला जगत का अपना गौरवशाली इतिहास रहा है। अतः जब भी किसी तरह के विकास की बात होगी और उनमें कला के विकास अवधारणओं की चर्चा हो या नहो फिर भी कलाओं की उपस्थिति तो अनिवार्य होगी ऐसे में भारत के सम्पूर्ण कला विकास को नजरअंदाज करना बेमानी ही होगा। यहां यह नहीं कहा जा सकता कि कलाओं के वर्गीकरण के पूर्व जो कलात्मकता आज इतिहास का महत्वपूर्ण हिस्सा है वह सहज आ जाती रही होगी अपितु उसके ज्ञान को देने की प्रविधियों को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता।

उत्तरोत्तर नकारात्मक रवैये को यदि त्यागते हुए वैश्विक कला इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह तथ्य करीने से प्रमाणित होते हैं कि धर्म समाज और राज्य कला विकास की प्रक्रिया को जितना प्रभावित करते हैं उससे कहीं ज्यादा रचनाकार का कौशल। विज्ञान, साहित्य एवं परम्पराएं जब जब धर्म और समाज के पक्ष और प्रतिपक्ष में आती हैं तो उदारता अनुदारता अनिवार्य रूप से कलाओं की रचनात्मकता को प्रभावित करती हैं। यहां शिक्षा का महत्वपूर्ण स्वरूप भी सहज ही सम्मुख आता है जब हम भारतीय शिक्षा व्यवस्था के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं। इस अप्राकृतिक प्रक्रिया के चलते मौलिक प्रक्रिया के विस्तार की वजाय प्रतिरूपण और अलंकारिकता के वैभव का ही विस्तारित कला का स्वरूप ही अधिक प्रचलित हो पाया, यही कारण है कि कलाएं सामाजिक स्वरूप में स्वीकार्य तो रहीं पर उतनी विकसित न हो पाने का कारण कहीं न कहीं असमानता और मानसिक दिवालियेपन की कहानी कहती नजर आती हैं।

फिर भी इतिहास बताता है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विकास की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और उनमें में जितनी विधाएं यशस्वी हुई हैं, उनमें ललित कलाओं का महत्वपूर्ण स्थान एवं योगदान रहा है। भारत का हर युग अपने समय में किसी न किसी रूप में कलाओं को समेटे हुए है, यहां पर समुचित रूप से देखा जाय तो निश्चित रूप से कलाओं से पटा पड़ा है। पर दुखद है कि जितना ध्यान जाना था वह सम्भवतः नहीं जा पाया है। वैसे तो भारत के गौरवशाली इतिहास में यह उल्लेख है कि समय समय पर इन विधाओं पर ध्यान रहा है, जिसके कारण कलाओं की स्थिति विविध संकटों के समय में भी कुछ न कुछ नूतन ही प्राप्त किया है।

यही कारण है कि भारतीय मानस कला रूपों को अपने जीवन के हर हिस्से में आभूषण के समान सजोकर रखा है शिलाखण्डों से लेकर देह तक का उपयोग इसके लिए किया गया है, भारतीय मानस का यही कला

प्रेम विविध रूपों में प्रस्फुटित हुआ है, गीत संगीत नृत्य चित्र मूर्ति एवं स्थापत्य आदि में तथा दैनिक उपयोग की विविध सामग्रियां जिनमें आभूषणादि के अतिरिक्त नाना प्रकार के उपयोगिता की सामाग्रियों के अलंकारिक संसाधनों में ये विविध कला रूप प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि लोक और विशिष्ट में कला अभिप्रायों की तमाम समता दृष्टिगोचर होती है। जिसको कालान्तर में पुनः नवीनतम तरीके से सामंजस्य के साथ प्रयुक्त किया गया है। यहां प्रयुक्त कलात्मकता की विवेचना भी महत्व की है, जिसमें कालान्तर में बहुत परिवर्तन देखने को मिला है, यहां पर यह महत्वपूर्ण है कि जिन कलारूपों की रचना समाज को प्रतिविम्बित करती थी वह धीरे धीरे विलुप्त हो रही है। यहां यह महत्वपूर्ण है कि सामाजिक पहचान में भी कलाएं बहुत सहयोगी थीं जो चुपचाप अपना काम करती रहती थीं।

इन कला रूपों के निर्माण की प्रक्रिया में कला शिक्षा की प्रक्रिया पर गौर करें तो अधिकांश में परम्परागत गुरू-शिष्य या पारिवारिक परम्परा में यह कलाएं आगे बढ़ीं जिससे सांस्कृतिक सम्पन्नता आयीं जिसे हम अपने भारतीय समाज के विविध जातीय कार्यों के पेशेवर विविधता के रूप में भी देख पाते हैं। यही इनके सीखने के केन्द्र रहे हैं जो इन्हें परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी इसके सम्पन्न स्वरूप प्रदान करते आए हैं।

इस परम्परा को आगे बढ़ाने और परवान चढ़ाने में जो कलाकार आगे आए उन्होने पीछे मुड़कर नहीं देखा, यथा कला के नये आयाम, नए प्रतिमान, नये मायने और नवीन तकनिकियों की खोजकर उनका भरपूर प्रयोग किए। यही कारण है कि समकालीन कला अपने विविध स्वरूपों में नजर आनी प्रारम्भ हुई। अब कला के मायने केवल और केवल पुरातन अर्थ समेटे रूपाकार न रहकर विविध अवस्थाओं व्यवस्थाओं को चिन्हित कर उनपर कलाकृतियों का सृजन हुआ। बृहत्तता और सूक्षमता का सामंजस्य एक साथ सामने आया, वसुदेव कुटुम्बकम की अवधारणा बलवती हुयी।

कालान्तर में इनके चलते अनेक तरह बदलाव के साथ नवीन परिवर्तनों ने विभिन्न प्रकार के माध्यमों को भी आजमाया और इनके विभिन्न शिक्षण केन्द्रों में भी इस नए बदलाव की शुरूआत हुई। जो विभिन्न स्कूलों के रूप में सामने आए विशेषकर ब्रिटिश शासन काल में जिन पश्चिमोन्मुखी कला शिक्षण की शिक्षा को प्रारम्भ किया गया उनमें पारंगतता के उपरान्त भी केवल कला की पराधीनता की जिस विधा को भारतीय कला के स्थानापन्न करने के लिए जिन अनेक स्कूलों की स्थापना हुई थी वहीं धीरे धीरे नवीन अवधारणा ने जगह बनाई।

क्योंकि कला शास्त्रों से बहुत पहले की चीज है अतः कलाओं की मूल्य दृष्टि एवं मानवीय उपयोगिता का सवाल हमेशा सृजन की संभावनाओं को स्थान प्रदान करता है, यही कारण है कि रचनाओं की विविधता का शास्त्रीय स्वरूप तय किए जाने के बाद भी वह उन नियमों को तोड़ती रही हैं। ''रचनात्मकता का संबन्ध साक्षर या शिक्षित होने से जरा भी नहीं। सांस्कृतिक दृष्टि से नितांन्त असंस्कृत महाकवि भृहरि के पात्र,'' बहुत से शिक्षितों के हाल सब जानते हैं।''

कलाओं की मूल्य दृष्टि-हेमन्त शेष की पुस्तक उद्धृत यह अंश कला शिक्षा के स्वरूप को परिलक्षित करता है अब सवाल यह है कि कला आन्दोलनों की स्थिति को कला शिक्षा से कैसे जोड़ा जाय, यही भारतीय कला

आन्दोलन की प्रासांगिकता को चिन्हित कराने में सहायक होगा जबकि समकालीन कलाकारों की सूची में जिन नामों को शरीक किया गया है उनपर सवाल उठेगे कि उनके मानदण्ड क्या हैं ? उनको समझने के लिए कला के विकास की अवधारणाओं को समझना होगा जिनकी वजह से कला में बदलाव उत्पन्न हुए।

अब तक कि कला प्रक्रिया में 1947 के प्रोग्रेसिव ग्रुप में-के0 एच0 आरा, एस0 के0 भाकरे, एम0 एफ0 हुसेन, एच0 ए0 गैडे, एस0 एच0 रजा, एस0 एन0 सूजा जिन छह कलाकारों को प्रोग्रेसिव ग्रुप में सुमार किया जाता है वह जिन विशेषताओं की वजह से जाने जाते हैं। परन्तु प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप का 1956 में विभाजन और स्वाभाविक रूप से दूर हुए फीका, समूह के कलाकारों को अपनी व्यक्तिगत शैली बनाने में व्यस्त थे. पीएजी के साथ जुड़े कलाकारों की सूची में लगभग सभी महत्वपूर्ण कलाकार लगभग 1950 में बंबई में काम कर रहे कलाकारों को भी शामिल किया जा सकता है।

आज कई ज्ञात अज्ञात भारतीय कलाकारों की व्यक्तिगत शैली है जिसे वे सक्षम करने में एवं आगे ले जाने में लगे हैं, और यह समाज में स्वीकृति प्राप्त करने के लिए निरन्तर यत्न कर रहे हैं। समकालीन कला आन्दोलन को आगे ले जाने में जिन कलाकारों ने अपना योगदान बेनामी या गुमनामी में किया है वह भी इस आन्दोलन के लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं।

वहीं दूसरी ओर जहां बड़े संस्थानों के कलाकार अपनी पहचान बनाने में कामयाब रहे और जिनसे ऐसा नहीं हुआ दोनो के अलग ग्रुपों ने कला जगत में अपनी छाप छोड़ी है उसका मूल्यांकन कब होगा इसकी घोषणा करना संभव नहीं है जब समकालीन व्यवस्था इन कलाओं के भविष्य से आंख मूंद लेती है तब कलाओं के पतन का दौर आरम्भ हो जाता है।

इस बीच की कला उपलब्धियां और उनका मूल्यांकन किया जाय तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। उन मनिषियों ने जिन्होंने भारतीय कला तत्वों एवं तकनीकी ज्ञान की स्थाई स्थापना के अध्ययन की नींव डाली होगी। परन्तु आज ये संस्थान उस समय की आकल्पित उक्त अवधारणा के उन स्वरूपों में जिस उत्थान की परि कल्पना की गयी थी उसका स्वरूप क्या हो गया है वह विचारणीय है।

इनके अतिरिक्त आधुनिक कला के बहाने समकालीन दौर की कला प्रक्रियाओं से विमुख अनेक शिक्षण संस्थानों की स्थिति तो और भी सोचनीय है। जिस तरह इनके शिक्षण साम्राज्य स्थापित हुए उनके कर्णधारों ने कला को नहीं किसी और विन्दु को महत्वपूर्ण करके जिस अ-कला को ही बढ़ाया गया है। यह भयावह दौर कला की इस वर्तमान स्थिति को इस स्थिति तक लाने में निश्चित तौर पर एक जटिल प्रक्रिया के अधीन आकर या होकर जहां तक पहुंचा है उसके अनेक उदाहरण हमें मिलते हैं। जिसके प्रभावी या अ-प्रभावी प्रभाव का मूल्यांकन कब होगा, कहना कठिन है। इसके और भी कारण हैं जिनमें विभिन्न प्राथमिक विद्यालयों की जटिल कला शिक्षा व्यवस्था या यूं कहें कि व्यवसायिक अवस्था के कारण मौलिक पद्धतियों की वजाय निहायत व्यवसायिक आधार ने जो कमजोर आधार खड़ा किए हैं वह शैक्षिक प्रक्रिया को प्रभावित करने में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि हम इसका अध्ययन निम्न विन्दुओं के आधर पर करें तो जो परिणाम सामने आएंगे उन्ही से सच्चाई का आकलन किया जा सकता है। यथा-

विद्यार्थी,शिक्षक,पाठ्यक्रम,क्लास,सं ासाधन,परीक्षा प्रणाली एवं व्यवस्थागत मानसिकता का मूल्यांकन किया जाना आज की समकालीन कला के स्वरूप को स्पष्ट करता है।

जिनका मतलब सीधे सीधे कलाओं को दयनीय बनाकर अपनी चेरी बनाना मात्र रह गया है। यही कारण है कि इस तरह के संस्थान कलाओं की वजाय कलाओं की अनुकृति कराने के केन्द्र मात्र बनकर रह गए हैं। यही नहीं अब तो इनकी यही व्यवस्था गुरूशिष्य की परम्परा बन गयी है। इनके उदाहरण हमें अनेक कला शिक्षकों के रोने धोने में दिखाई ही दे जाता है यथा आजकल के बच्चों के पास वक्त ही नहीं है क्लास में ही नहीं आते हैं, गांव के बच्चे न जिनके पास सामग्री होती है और न ही उन्हें समझ, उनके गार्जियन भी ऐसे हैं, इसलिए पाठ्यक्रम ऐसा रखिए जिससे काम आसानी से निकल जाए। और आश्चर्य जनक यथार्थ से रूबरू होना पड़ा है इस कला शिक्षा के जिम्मेदार शिक्षक होने का अरमान रखने के कारण। यहां उस यथार्थ की वानगी – स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के कल शिक्षण की आवश्यक सुविधाओं पर नजर डालें तो उनका कोई मानदण्ड लिखित रूप में कहीं उपलब्ध नहीं है, पर प्रयोगात्मक कक्षाओं की सामान्य व्यवस्था अनेक उन्नत कला महाविद्यालयों तक में उपलब्ध नहीं है जो अपने आप में एक बड़ी विडम्बना है।

यही कारण है कि जिस स्थान पर कला को होना चाहिए था आज वहां नहीं है। इन्ही कारणों से आज की कला शिक्षा में जिन मूल्यों की प्रतिस्थापना होनी चाहिए थी कहीं न कहीं उनका संकट उपस्थित है। पर नित नए संस्थान जन्म ले रहे हैं जहां केवल और केवल यह हो रहा है कि शिक्षण प्रशिक्षण की कला का विकास तो हो रहा होगा पर कला के शिक्षण प्रशिक्षण की कला मूल्यों एवं उनकी मौलिकताओं का अभाव है यही कारण है कि सारी प्रक्रियाएं ठहरी हुयी सी प्रतीत हो रही हैं। हो सकता है कल कोई कला जिज्ञासु आए और इनको झकझोरने की कोशिस करे। फिर इनकी नींद टूटे और कला सृजन की संभावनाओं की भी इन्हे भी चिन्ता हो जो केवल और केवल नौकरियों वाली कला शिक्षा, उपाधियां उपलब्धियों की जगह ले ली हैं ।

***सहायक आचार्य**
चित्रकला विभाग
एस.एस.जैन सुबोध बी.एड कॉलेज
जयपुर (राज.)